प्रवसन की पीड़ा और शिक्षा

नन्द किशोर प्रसाद*

प्रस्तुत लेख का मुख्य केंद्र बिंदु है – प्रवसन की पीड़ा और प्रवासियों के बच्चों का शिक्षा से वंचित होना। इन प्रवासी लोगों के पास सिर ढकने के लिए छत और खाने के लिए दो जून की रोटी तक नहीं होती और यदि वे लोग अपना और अपने बच्चों का भविष्य सुधारने के लिए अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहते हैं तो पहले उनका पहचान-पत्र और स्थायी निवास प्रमाण-पत्र माँगा जाता है। यह हमारे देश की कैसी विडंबना है कि जिनके पास रोटी, कपड़ा और मकान नहीं हैं, उनके पास प्रमाण-पत्र कहाँ से आएँगे? उनके बच्चों को विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने का भी कोई अधिकार नहीं है, जबकि सरकार ने तो सर्वशिक्षा अभियान, और शिक्षा का अधिकार अधिनियम, के अंतर्गत भारत के सभी बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने का मौलिक अधिकार दिया है। लेखक ने इस लेख में ऐसे कई बच्चों के उदाहरण दिये हैं जो आज भी शिक्षा प्राप्त करने से वंचित हैं। हालांकि कई सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इन बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था के लिए कुछ प्रयास अवश्य किये हैं परंतु फिर भी अभी इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण सफलता नहीं हासिल हुई है। लेखक के अनुसार इन बच्चों को शिक्षित करने में सरकारी और निजी संस्थाओं के साथ-साथ जागरूक नागरिक भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। लेखक ने यहाँ कुछ और महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठाए हैं, जैसे– क्या इन प्रयासों के बावजूद भी प्रवसन की पीड़ा कम हो पाएगी? क्या शिक्षा मलहम का काम करेगी?

प्रवसन की एक लंबी परम्परा रही है। गिरमिटिया मजदूरों से लेकर लोक कलाकारों तक का भारत के विविध प्रदेशों से रोजगार वाले शहरों व प्रदेशों में प्रवसन होता रहा है। लोक नाटककार भिखारी ठाकुर[1] ने बटोही के माध्यम से इस पीड़ा को व्यक्त किया है।

* *सहायक प्राध्यापक*, दयालसिंह कॉलेज (सायं), लोदी रोड, नयी दिल्ली 110003

अंग्रेज़ी राज के समय में पूर्वांचल इलाकों से असम, बंगाल, मॉरीशस, फिजी, त्रिनिदाद इत्यादि स्थानों पर मजदूरों का प्रवसन हुआ।

गियर्सन[2] ने भी इस प्रवसन की चर्चा की है, जाहिर सी बात है कि मजदूरों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक काम के लिए जाना उनकी प्राथमिक ज़रूरतों के कारण ही रहा होगा। आज जब हम प्रवसन की बात कर रहे हैं तो यह प्रवसन उस समय के प्रवसन से अलग है। उस समय घर के मुखिया व नौजवान पुरुष काम के लिए बाहर जाते थे जबकि इधर कुछेक दशकों से पूरा का पूरा परिवार ही काम की तलाश में शहरों की तरफ़ पलायन कर रहा है। ऐसे में इसे प्रवसन की पीड़ा न कहकर पलायन की पीड़ा कहना ज़्यादा उचित होगा।

भारतीय संविधान के अनुसार 'शिक्षा का अधिकार' एक मौलिक अधिकार है, अर्थात् अब गरीब भाई-बन्धु भी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। अपनी तथा अपनी पारिवारिक स्थितियों को शिक्षित होकर बदल सकते हैं। मसलन प्राथमिक विद्यालयों में आसानी से नामांकन प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या यह अधिकार वास्तव में इस स्थिति को सुधार सकेगा? क्या आम जनता-जिसमें सड़कों पर भीख मांगते बच्चे या छोटी उम्र में ही खतरनाक किस्म के धंधों में शामिल हैं– जानती है कि ये अधिकार कैसे लिए जाएँ। इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पूर्व कुछ अनुभव साझा करना चाहूँगा। कुछ दिन पहले ही मैं ट्रेन में शिवा से मिला। यह लेख ऐसे बच्चों पर आधारित है जो प्रवसन की पीड़ा को झेल रहे हैं। शिवा एक आदिवासी बच्चा है, जो लगभग दस-ग्यारह साल का है। भाषा में ठनक और हाज़िर-जवाबी उसकी विशिष्टता है। वह अपनी कला का पैसा माँग रहा था, इसलिए उसमें एक आत्मविश्वास था। यात्री लोग भीख के रूप में उसे एक-दो रुपये दे रहे थे। उसकी हर बात जैसे कलेजे में धँसती जा रही थी। ''तुम्हारा नाम क्या है?- शिवा। भीख क्यों मागते हो?- मेरा बाप मँगवाता है। तुम्हारी माँ कहाँ रहती है?- तिलद्रा स्टेशन के पास। घर कैसा है?- प्लास्टिक का। माँ भी भीख माँगती है। पढ़ने क्यों नहीं जाता?- बाप जाने नहीं देता। मेरा कोई दोस्त नहीं पढ़ता, सब भीख माँगते हैं। तुम इतने अच्छे हो, पढ़ाई क्यों नहीं करते?- माँ गई थी, टीचर ने मना कर दिया, कोई कागज़ नहीं था हमारे पास।'' ये शिवा और मेरे बीच हुए कुछ संवाद हैं। मेरी बोगी के बाद शिवा शेष बोगियों में भीख माँगने नहीं गया। उसे मेरी बातों में रुचि आ गई थी।

शिवा छत्तीसगढ़ का एक आदिवासी बालक है। उसने स्वयं को छत्तीसगढ़ी आदिवासी बताया। तिलद्रा से रायपुर और रायपुर से तिलद्रा स्टेशन के बीच आने-जाने वाली ट्रेनों में वह भीख माँगता है। उसके पास एक कटोरा है जिसे वह एक जगह रखकर पूरी बोगी में टोपी के ऊपर बँधे धागे को हिलाता है, फिर वापस जाकर लोहे की रिंग से तीन तरह से निकलता है। सबसे पहले वह

हाथ और गर्दन को एक साथ बाहर निकालता है फिर रिंग खटाक से नीचे गिर जाती है। उसके बाद वह चित लेटकर पहले पैर और फिर सिर को घुसाकर निकल जाता है, इसी तरह वह पट होकर भी करता है। उसमें काम के प्रति ईमानदारी व फुर्ती बहुत है क्योंकि कला भी दिखानी है और भीख भी माँगनी है, साथ ही अगली बोगियों में भी जाना है। S–7 तक आते–आते तिलद्रा स्टेशन आ गया और वह नीचे उतर गया। तिलद्रा स्टेशन पर रेलगाड़ी पाँच मिनट के लिए रुकी थी। मैंने शिवा को एक बार फिर आवाज़ दी, वह चौंक गया और दौड़ता हुआ मेरे पास आ गया। मैंने कहा कि शिवा मेरी तरफ़ से आलू के पकौड़े तुमको व तुम्हारे साथियों को भी। 'ये तीनों मेरी बहनें हैं, माँ भी इसी स्टेशन पर है' कहते हुए शिवा की आँखों में चमक आ गई।

मैं शिवा के बारे में कई तरह से विचारने लगा। वह लड़का इतनी बेहतर हिंदी बोलता है जबकि स्वयं को आदिवासी और छत्तीसगढ़ी बताता है। शायद चार–पाँच साल से भीख माँगने के कारण उसे हिंदी बोलनी आ गई हो क्योंकि ट्रेन में सफर करने वाले लोग अधिकांशत: हिंदी बोलते हैं।

शिवा की कागज़ की बात मेरे दिमाग में ठनक गई। ऐसी ही घटना दिल्ली के बदरपुर इलाके में मेरे साथ घटी थी, जब हुस्नबानो रंग–बिरंगे बच्चों के साथ खेल रही थी। उन बच्चों में किसी का मुँह लाल था तो किसी का काला, सब भीख माँग कर आये थे। हुस्नबानो उन्हीं बच्चों के साथ खेल रही थी। उसकी माँ सड़क के किनारे लोहे को विविध रूप देकर अपना पेट पाल रही थी। वह चाहती थी कि हुस्नबानो पढ़े–लिखे, लेकिन वह प्रामाणिक नहीं थी अर्थात् राशन कार्ड, पहचान–पत्र, जमीन के कागज़ इत्यादि उसके पास नहीं थे। बीसों बार स्कूल के चक्कर काट कर थक गई थी। वह समझ चुकी थी कि पटरियों के सहारे जीवन यापन करने वालों के लिए शिक्षा का अधिकार नहीं है। इस लेख में हुस्नबानो खातून का जिक्र करने के पीछे एकमात्र कारण यह है कि मैंने व्यक्तिगत रूप से उसके नामांकन के लिए प्रयास किये थे, किन्तु असफल रहा। 'मैं प्रयास करता हूँ'– जैसे वाक्य उसकी माँ की नज़रों में विश्वास खो चुके थे। मैं साफ़ देख रहा था–एक ओर शिक्षा के प्रति उठते हुए विश्वास को, तो दूसरी ओर सरकारी स्कूलों से उठते विश्वास को। सचमुच बहुत अजीब लगता है जब बड़ी–बड़ी संस्थाएँ अनेक मीनारों में शिक्षा के विविध पहलुओं पर विचार करती हैं, सर्वेक्षण भी करती हैं, लेकिन सुधार व परिवर्तन के नाम पर क्या हाथ लगता है। जाहिर सी बात है जो विद्वत समाज जिन समस्याओं पर बात करता है, उनके बच्चे उन समस्याओं से मुक्त हैं। उनका बच्चा नगर निगम विद्यालय में नहीं है, उनके लिए पैसा महत्वपूर्ण है परिवर्तन नहीं।

यहाँ 'दैनिक भास्कर समाचार–पत्र' (दिनांक 14 दिसंबर 2011) का उल्लेख करना चाहूँगा– 'सबकी शिक्षा का ख्याल–सब हों खुशहाल' के

अंतर्गत हरियाणा राज्य में शिक्षा के अधिकार अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए सरकारी स्कूल के बच्चों के दाखिलों के लिए जन्म प्रमाण-पत्र एवं स्थानांतरण प्रमाण-पत्र जैसी बाधाओं को समाप्त कर दिया गया है। साथ ही हरियाणा के माननीय मुख्यमंत्री शिक्षा के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण बात करते हैं। वे कहते हैं कि ''अच्छे नागरिक तैयार करने का मुख्य काम पाठशालाओं का होता है। सरकारों के सहयोग के बिना यह काम संभव नहीं है। हमने अपने कार्यकाल में शिक्षा के समुचित विकास के लिए ऐसी ही योजनाएँ तैयार की हैं। इन योजनाओं के परिणाम भी बेहद सुखद हैं। भविष्य की खुशहाली के लिए शिक्षा सुधार बेहद आवश्यक है।'' इस वक्तव्य में दो चीजें बेहद महत्वपूर्ण हैं - पहली सरकार और दूसरी सहयोग। ये दोनों ही चीजें अगर हुस्नबानो को मिली होतीं तो शायद वह पढ़-लिखकर अपनी पारिवारिक स्थिति बदल सकती थी।

इस लेख में बहुत अधिक तर्क गढ़ना नहीं चाहता, दो विद्वानों के मतों के साथ अपनी बात स्पष्ट करना चाहता हूँ। - प्राथमिक शिक्षक, जुलाई 2009, एनसीईआरटी में एक लेखिका ने लंगोट (टाई) के खिलाफ़ अभियान चला रखा है। उनका मानना है कि संस्कृति की ठेकेदारी आदिवासी लोगों के पास है, ऐसे में उनका पढ़ना या शिक्षित होना भारतीय संस्कृति को नष्ट करना है। अर्थात् उनके बच्चे टाई पहनकर स्कूल जा रहे हैं, बन्दर, भालुओं का नाच नहीं दिखा रहे हैं, तो भारतीय संस्कृति का मरना तय है। दरअसल इस देश के एक वर्ग की मानसिकता ऐसी रही है जिसमें कुछ लोग नाचते हैं और कुछ उस तमाशे को देखते हैं। कितनी अजीब बात है कि अपना बच्चा प्राइवेट, बड़े स्कूलों में टाई पहनकर जाए तो वह टाई के रूप में ही रहती है जबकि कोई गरीब या साधनहीन बच्चा टाई पहनकर स्कूल जाए तो वह लंगोट में बदल जाती है, अर्थात् अपना बच्चा पहने तो टाई, आदिवासी का बच्चा पहने तो लंगोट।

एक छोटा-सा बालक ट्रेन में भीख इसलिए नहीं माँग रहा है कि उसे ट्रेन का मज़ा लेना है, बल्कि इसलिए माँग रहा है क्योंकि हम लोग उसकी लंगोट के खिलाफ़ हैं। जिस दिन उसकी लंगोट को टाई के रूप में देखा जाएगा और अपने बच्चे को वह लंगोट पहनाई जाएगी, तब संस्कृति मरेगी नहीं नए रूप में विकसित होगी। संस्कृति का विकास कुछेक लोगों की ठेकेदारी नहीं है, इसका विकास सभी लोगों के सहयोग से संभव है।

शिवा को नहीं पता कि उसका बचपन कैसे बीत रहा है और न ही उसे बुढ़ापे का ख्याल व डर है। उसे तो इतना ख्याल है कि जल्दी-जल्दी कला दिखाकर कुछ कमा लिया जाए नहीं तो शाम को भोजन भी शायद नहीं मिलेगा।

Untouchable Pasts[3] में सौरभ दुबे ने बहुत ही महत्वपूर्ण संकेत किया है कि नज़राना या मालगुजारी के साथ आदिवासियों की ज़मीनों को छीनना और उनसे मजदूर के

रूप में काम कराना एवं शारीरिक व मानसिक प्रताड़ना तथा उनके और उनके परिवार के साथ एक आदमी की तरह व्यवहार न करना इत्यादि – एक नई विकृत सोच की ओर इशारा करता है और इनके शिक्षित होने की अति आवश्यक स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। बाबा रामचन्द्रन ने 1920 में आदिवासियों व सतनामियों की तरफ़ से 30 माँगें डिप्टी कमीशनर ऑफ बिलासपुर के समक्ष रखीं, जिसमें प्रथम माँग शिक्षा की थी। शेष माँगों को पढ़ने से रौंगटे खड़े हो जाते हैं, ऐसा लगता है जैसे यह एक मनुष्य दूसरे से माँग रहा है। जैसे कपड़ा साफ़ करें तो मजदूरी मिले। कुएँ से पानी, बीमार को दवा, सामान्य रास्तों पर चलना, रोटी की व्यवस्था, बेटी की सुरक्षा, सर्दी, गर्मी, बरसात में उसे कपड़े, जूते व छाते रखने की छूट हो इत्यादि। इस संदर्भ का उल्लेख मैंने इसलिए किया है क्योंकि आज भी मैंने अपनी आँखों से छोटी-छोटी आदिवासी और सतनामी लड़कियों को गोबर बीनते देखा है, लोहा-लक्कड़ चुनते देखा है। आज से बीस साल पहले जो दशा मेरे गाँव की थी, आज वह दशा आदिवासियों की है। रैदास, कबीर, रज्जब व अन्य संत मजदूर जब श्रम करके आते थे तो अपनी थकान को कम करने के लिए पद गाते थे और ढोलक झाल बजाते थे। आदिवासी भी अपनी थकान को कम करने के लिए अनेक नाच-गान करते हैं, ऐसे में उनके लोकनृत्य व लोककला को संस्कृति के चश्मे से देखेंगे तो हमें कष्ट होगा, अर्थात् लोक को पूँजीवादी मानसिकता की अपेक्षा लोकवादी मानसिकता से देखने की ज़रूरत है। शिवा की कला को संस्कृति के चश्मे से देखेंगे तो उसमें भीख मांगने की कला नज़र आएगी, लेकिन जब उसे प्रवसन के बाद व्यक्ति की रोटी, कपड़ा और मकान के रूप में देखेंगे तो एक छोटे बालक की मजबूरी नज़र आएगी, अर्थात् पिछड़े व गरीब लोगों की लोककला को हम आनंद की जगह देखेंगे तो उसकी लोककला आगे बढ़ेगी क्योंकि अधिकतर पिछड़े हुए लोगों में हम लोग लोक की कल्पना करते हैं और स्वयं शिक्षित होकर लोक को आनन्द के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

श्यामचरण दुबे[4] ने अपनी नवीन पुस्तक में आठ समाधान आदिवासियों के सन्दर्भ में गिनाये हैं, जिसमें वैज्ञानिक ढ़ंग से अध्ययन, प्राविधिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास, एकीकरण, विरोधी पक्षों का विश्लेषण, शासक व गैर-सरकारी संस्थाओं का विश्लेषण, योजनाओं का निर्माण इत्यादि। यहाँ दुबे जी ने शिक्षा से संबंधित कोई राय नहीं दी है। पता नहीं आदिवासी संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए आदिवासियों का शिक्षित होना ज़रूरी है या नहीं। आर्थिक, सामाजिक व राष्ट्रीय विकास कैसे संभव होगा जब तक उनमें शिक्षा नहीं होगी।

मेरा मतलब है कि शिक्षा के अधिकार के तहत उन बच्चों को भी शिक्षित करने की कोई वैकल्पिक व्यवस्था होनी चाहिए। भले ही वह

समय दो घंटे या एक घंटे का हो। जैसे सुनील नामक 10–11 साल का बच्चा दिल्ली की बसों में 'ऐ मालिक तेरे बंदे हम' गाकर भीख माँगता है और 'अपनी भलाई' नामक संस्था से शिक्षा भी प्राप्त करता है। मैं नहीं जानता कि 'अपनी भलाई' संस्था कौन चलाता है, लेकिन इतना तो सच है कि सुनील को पढ़ना आता था। मेरा मतलब है कि इस तरह के सरकारी या गैर–सरकारी प्रयास किए जाएँ जहाँ सुबह, शाम या दोपहर किसी भी समय कम–से–कम दो घंटे पढ़ाया–लिखाया जाए। वह जिस गीत को गा रहा था, उसी गीत को प्रार्थना के रूप में हम लोग भी गाते हैं। फ़र्क सिर्फ़ इतना है कि हम लोग शिक्षा प्राप्त करने से पहले गाते थे और वह लड़का भीख माँगने से पहले।

भारत में विविध प्रदेशों में गरीब लोगों का प्रवसन होता रहा है। इस प्रवसन में वे पूरे परिवार के साथ एक–दूसरे स्थान पर स्थानांतरित हो जाते हैं। कुछ बंग्लादेशी भी हो सकते हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन एक बहुत बड़े समुदाय के साथ शिक्षा का अधिकार खोखला–सा दिख रहा है, जिसके पास स्थायी नाम की कोई चीज़ नहीं है। इस लेख में दो उदाहरणों से उस तरफ़ संकेत करने की कोशिश की है। आज सवाल यह नहीं है कि कौन कितना शिक्षित है बल्कि सवाल यह है कि जो सरकार की लिस्ट में ही नहीं है, उसके लिए संस्थाएँ क्या काम कर रही हैं।

उम्मीद तो ऐसी ही है, इस अधिकार के अंतर्गत हमारे जैसे बहुत से जागरूक नागरिक स्कूल से बाहर के बच्चों को स्कूल के अंदर ले जाने में मदद् करेंगे, स्कूल भी उनका स्वागत करेंगे पर फिर भी बहुत से प्रश्न अनुत्तरित हैं – क्या उन्हें गुणवत्ता शिक्षा मिलेगी? क्या वे स्कूल में ठहर पोयेंगे? क्या होगा उनकी रोज़ी–रोटी का? उनके प्रवसन के साथ–साथ क्या विद्यालय भी प्रवासी होंगे? क्या प्रवसन की पीड़ा कम होगी? क्या शिक्षा मलहम का काम करेगी?

संदर्भ

1. सिंह, धनंजय. 2009. *लोकधर्मी नाट्य परंपरा और भिखारी ठाकुर (शोध प्रबंध)*, दिल्ली विश्वविद्यालय
2. गियर्सन, जी.ए. 1973. लिंग्विस्टिक *सर्वे ऑफ़ इंडिया, वॉल्युम–3, पार्ट–2*, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, दिल्ली
3. दुबे, सौरभ. 1998. *अनटचेबल पास्ट्स*, विस्तार पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
4. दुबे, श्यामचरण. 1977. *ट्राइबल हैरीटेज ऑफ़ इंडिया*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली